ORIGINAL RESEARCH PAPER

History

KEY WORDS:

जैन मंदिर परम्परा की एतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उनकी विशेषताएँ

डॉ0 के0 के0 शर्मा एसोसिएट प्रोफेसर – इतिहास विभाग, एम0एम0पी0जी0 कॉलिज, मोदीनगर (गाजियाबाद)

अमित कुमार शौध छात्र – इतिहास विभाग, एम0एम0पी0जी0 कॉलिज, मोदीनगर (गाजियाबाद)

मन्दिर शब्द संस्कृत वाइमय में अधिक प्राचीन नही है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राहमण में मिलता है। महाकाव्य और सूत्रग्रन्थो में मंदिर की अपेक्षा देवालय, देवायतन, देवकुल, देवगृह, देवागार, देवस्थान आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन सभी शब्दों से देवता के निवास स्थान का बोध होता है, अतएव मन्दिर की कल्पना देवताओ के आवास के रूप में की गयी है[1]। डॉ भागचन्द्र जैन के अनुसार[2],"भारत धर्मप्रधान देश है। धार्मिक तृप्ति के लिए अपनाये गये साधनों में अभीष्ट देव के निवास की कल्पना भी थी। सुमेरू के नाम से एक ऐसे पर्वत की कल्पना की गयी, जो लौकिक पर्वतों से आकार–प्रकार में सर्वथा भिन्न था। सुमेरू पर स्वर्गीय सुविधाएँ और वातावरण था। उसके बीच अभीष्ट देव का निवास था। परन्तु भक्त अपने वर्तमान जन्म में वहाँ तक पहुंच नहीं सकता था जबकि उसे अपने उपास्य का दर्शन क्षण–क्षण अनिवार्य प्रतीत होता गया। अतः उसने स्वयं सुमेरू की रचना करने की ठानी, जिस पर अवतीर्ण होकर उसका उपास्य विराजमान होता। इस प्रकार सुमेरू[3] की कल्पना के साथ ही मन्दिर स्थापत्य का उपक्रम हुआ"। फलस्वरूप भारत वर्ष में विभिन्न धर्मों के अनुयायियों ने अपने ईष्ट देव के निवास के लिए मंदिरों की स्थापना की। इनमें से जैन धर्म के अनुयायी भी प्रमुख हैं, जिन्होंने लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैन मंदिरों की स्थपना की है।

जैन धर्म में मंदिर से भी प्राचीन शब्द है–'आयतन', जिसका अस्तित्व महावीर के काल में भी था क्योंकि वे अपने विहारों के समय यक्षायतनों में ठहरा करते थे। बाद में इस आयतन शब्द का उपयोग जिनायतन शब्द के अंतर्गत होने लगा और उसके भी बाद मंदिर, आलय, गेह, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ले लिया[4]।

दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पांच मन्दिरों का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने 72 जिनालय बनवाये। उनमें अनर्ध्य रत्नों की प्रतिमायें विराजमान कराई। मानव के इतिहास में तदाकार प्रतीक–स्थापना और उसकी पूजा का यह प्रथम सफल उद्योग कहलाया। शत्रुघ्न ने मथुरा में अनेक जिन–मन्दिरों का निर्माण कराया। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरों की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारों और परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लंकाधिपति रावण इन मन्दिरों के दर्शनो के लिए कई बार आया था। लंका में एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमें रावण पूजन किया करता था और लंका–विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।[5]

पुरातात्विक दृष्टि से यदि बात की जाए तो जैन मन्दिरों का निर्माण–काल जैन प्रतिमाओं के निर्माण–काल से प्राचीन प्रतीत नहीं होता। लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुरा आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनमें बहुतायत में जैन प्रतिमाएं मिली है। किन्तु अब तक सम्पूर्ण मन्दिर कहीं पर भी नहीं मिला। इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरों का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

किन्तु गुहा–मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सावती आठवीं शताब्दी तक के मिलते है। तेरापुर के लयण, उदयगिरि–खण्डगिरि के गुहामन्दिर, अजन्ता–ऐलोरा और बादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियां इस बात के प्रमाण है कि गुफाओं को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उड़ीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओं में गुहा–मन्दिर (लयण) बनवायें और उनमें पार्श्वनाथ तीर्थकर की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब तक विद्यमान है। 'करकण्डु चरिउ' आदि ग्रन्थों के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ–प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।[6] इन गुहा मन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कहीं–कहीं गुफाओं में भित्ति–चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं।

पुरातत्वज्ञों के मतानुसार महावीर–काल में जिनायतन नहीं थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष–चैत्य थे। श्वेताम्बर सूत्र–साहित्य में किसी जिनायतन में महावीर के ठहरने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता, बल्कि यक्षायतनों में उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते हैं। महावीर का जिन यक्षायतनों में रूकने का उल्लेख मिलता है, वे किसी वृक्ष के नीचे होते थे और उन्हें वेष्टनी द्वारा परिवेष्टित कर दिया जाता था।[7] इन यक्षायतनों और चैत्यों के आदर्श पर जिनायतन या जिन–मन्दिरों की रचना की गयी।

ईसा पूर्व 600 में मथुरा, काम्पिल्य आदि में पार्श्वनाथ, महावीर आदि के मन्दिर निर्मित हुए थे, ऐसा अनुभव जैन साहित्यिक उल्लेखों से होता है। महावीर से सौ वर्ष पूर्व मथुरा के कंकाली टीले पर किसी कुबेरा देवी ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था। यह पहले सोने का था, बाद में प्रस्तर–खण्डों और ईंटों से आवेष्टित कर दिया गया।[8] जो बाद में देवनिर्मित बोद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कुबेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डों और ईंटों से ढंक दिया। स्थापत्य की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख कंकाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण–चौकी पर अंकित मिलता है।

मौर्य और शुंग काल में जैन मन्दिरों का निर्माण अच्छी संख्या में होने लगा था। उस समय ऊँचे स्थान पर स्तम्भों के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी।

इण्डोसाइथिक समय के जैनों ने एक प्राचीन मन्दिर में से खुदाई के लिए उसके अवशेषों का उपयोग किया था। स्मिथ भी यह मानते हैं कि इस्वी पूर्व 150 में मथुरा में जैन–मन्दिर था। मथुरा के "बौद्ध स्तूप से शायद ही कोई अपरिचित होगा। इससे ज्ञात होता है उस समय जैनों में स्तूप–पूजा का भी रिवाज चल पड़ा था, पर यह स्तूप परम्परा चली नहीं। बी0 जायसवालजी का मानना है कि औरिसा में भी कायनिसीदौ–अर्थात् जैन–स्तूप था, जिसमें अरिहन्त का अस्थि गड़ा हुआ था।[9]

शक–सातवाहन–काल (ई0पू0 100 से 200 ई0) में मन्दिरों का निर्माण और अधिक संख्या में होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरों, उनके स्तम्भों और ध्वजाओं पर तीर्थकर की मूर्ति बनाई जाने लगी।[10] इस काल में प्रदक्षिणा–पथ भी बनने लगे जो प्रायः काष्ठ की वेष्टनी से बनाये जाते थे। कुषाण काल में ये पाषाण के बनने लगे।

जैन साहित्यिक स्रोतों में इस काल में बने भड़ौच के शकुनिकाविहार–मुनिसुव्रत तीर्थकर के मन्दिर का उल्लेख आता है। विक्रम संतव् 4 पूर्व यहाँ पर आर्य खपुटाचार्य के रहने का उल्लेख जैन प्रबंधों में आता है। यह विहार प्रथम काष्ठ का था, पर चौलुक्यों के समय में आंबड़भट्ट ने पाषाण का बनाया। लेकिन अल्लाउद्दीन ने गुजरात पर आक्रमण कर भड़ौच सर किया और इतिहास प्रसिद्ध इस सांस्कृतिक तीर्थस्वरूप बिहार को जामाए–मस्जिद में बदल दिया। यह घटना ई0 सं0 1297 की है। इस पर बर्जेस ने विशषे विचार किया है। वह इसकी कला के सम्बन्ध में लिखता है – "इस स्थान की प्राचीन कारीगरी, आकृतियों की खुदाई और रसिकता, स्थापत्य, शिल्पी की कला का रूप और लावण्य भारत में बेजोड़ है"।[11] इस विहार पर प्रकाश डालने वाले संस्कृत, प्राकृत और देश्य भाषा में अनेक उल्लेख–बल्कि स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलते है। कच्छ–भद्रेश्वर का मन्दिर भी सम्प्रति द्वारा निर्मित, माना जाता है। पश्चिम भारत में जो प्रांतीय साहित्य उपलबध हुआ है, उसमें और भी कई प्राचीन मन्दिरों का उल्लेख है, पर आठवीं शती पूर्व के ऐसे अवशेष अल्प ही मिले हैं। सम्भव है उनका उपयोग और कोई कार्य में हो गया हो, जैसा कि भद्रेश्वर के अवशेषों का उपयोग ई0 सं0 1810 में मुद्रा ग्राम बसाने में हुआ था और शकुनिकाविहार का मस्जिद में।[12]

कुषाण काल में अहिच्छत्र, कौशाम्बी, काम्पिल्य और हस्तिनापुर अच्छे जैन–केन्द्र माने जाते थे। उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में भी जैन धर्म के प्रारम्भिक केन्द्र थे। यहां अनेक जैन मन्दिर निर्मित हुए थे।[13]

गुप्त काल (ई0 चौथी से छटी शताब्दी) में मन्दिरों का निर्माण प्रचुरता से होने लगा। सौन्दर्य और मन्दिरों के अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल में स्तम्भों को पत्रावली और मांगलिक चिन्हों से अलंकृत किया जाने लगा। तोरण और सिरदल के ऊपर तीर्थकर–मूर्ति बनाई जाने लगी। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनने लगा। बाहर स्तम्भों पर आधारित मण्डप की रचना होने लगी। बाहय भित्तियों पर मूर्तियों का अंकन होने लगा।[14]

जैन मंदिरों की प्रमुख विशेषताएँ–

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जैन मन्दिरों का विकास भी अपनी समकालीन परम्पराओं के मन्दिरों के साथ एक ही प्रवाह में कभी तीव्र और कभी मंद गति से, निरंतर होता रहा। यही कारण है कि अन्य परम्पराओं के मन्दिरों के मध्य एक जैन मन्दिर की पहचान के लिए सूक्ष्म परीक्षा की आवश्यकता होती है, या फिर उसके लिए किसी अभिलेख, या साहित्य का स्पष्ट उल्लेख, या परम्परागत प्रमाण, या किसी मूर्ति का होना आवश्यक है।[15]

मानसार में मन्दिर के भेदों पर कुछ प्रकाश डाला गया है। यहाँ उल्लेख मिलता है कि जैन–मन्दिर नगर के बाहर और वैष्णव–मन्दिर नगर के मध्य में होना चाहिए। ऐसा लगता है कि गुफा–मन्दिर अक्सर पहाड़ियों में हुआ करते थे और बहुसंख्यक जैन मन्दिर भी स्वाभाविक शान्ति के कारण बाहर बनाये जाते थे। अतः लिख दिया कि जैन–मन्दिर बाहर होना चाहिए। पर इतिहास साहित्य से मानसार के सांम्प्रदायिक उल्लेख की पुष्टि बिल्कुल नहीं होती।[16]

श्री गोरीशंकर औझा लिखते हैं – "ईस्वी सन् की सावतीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक के सैकड़ों जैनों के मन्दिर अब तक किसी न किसी दिशा में विद्यमान है। जैन–मन्दिरों के स्तम्भों, छतों आदि में बहुधा जैनों से संबंध रखने वाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती है। बहुधा जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी–छोटी देवकुलिकाएँ बनी रहती है, जिनमें भिन्न–भिन्न तीर्थकरों की प्रतिमाएं स्थापित की जाती है। जैन–मंदिरों में कहीं–कहीं दो मंढ़प और एक विस्तृत वेदी भी होती है। मंदिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वहीं ध्वजदंड भी होता है।[17]

जैन धर्म में मंदिर अनिवार्य रूप से किसी तीर्थकर को समर्पित होता है इसलिए उसे एक स्मारक की

संज्ञा देना किसी सीमा तक तर्कसंगत हो सकता है पर यह निश्चित है कि मन्दिर ऐसा स्मारक नहीं जो किसी के अंतिम संस्कार के स्थान पर अथवा अस्थि आदि अवशेषों पर निर्मित किया जाता है।[18] अर्थात् जैन मंदिर की मुख्य वेदी में जो मूलनायक[19] प्रतिमा विराजमान होती है, वह मंदिर उसी तीर्थंकर का बोला जाता है। जैसे – आदिनाथ का मन्दिर, शान्तिनाथ का मन्दिर आदि।

मुनि कान्ति सागर के अनुसार, जैन मन्दिर का भीतरी भाग इन उपभागों में विभक्त रहता है – द्वार मंडप, 'श्रृंगार चौकी', 'नवचौकी', 'गूढमंडप', 'कोलीमंडप' और गर्भगृह'', जहाँ पर मूर्ति स्थापित की जाती है। गर्भगृह और गूढ़मंडप पर क्रमशः शिखर एवं गुम्बज रहते हैं द्वारमंडप प्रायः सजा हुआ रहता है। दो स्तम्भों का तोरण भी कहीं–कहीं रखा जाता है। मुख्य द्वार पर मंगलचैत्य या जिनमूर्ति की आकृति का रहना आवश्यक है। भीतरी भागों में भी जो मुख्य मंडप रहता है–जहाँ श्रावक नर–नारी प्रभु भक्ति करते हैं वहाँ के संतुलित अंकन वाले स्तम्भों पर नृत्य करती हुई या संगीत के विभिन्न वाद्यों को धारण करने वाली, निर्विकार पुत्तलिकाओं की भाव–सूचक मूर्तियाँ खुदी रहती है। इसे नृत्यमंडप भी कह सकते है। स्तम्भों पर आधृत छतों में बीतराग परमात्मा के समवशरण, या जिस तीर्थंकर का मन्दिर है, उसके जीवन की विशिष्ट घटनाएँ खुदी हुई पाई जाती है। कहीं–कहीं विशेष उत्सवों के भावों का प्रदर्शन भी देखा गया है। मधुच्छत्र इसी पर रहता है। आबू का मधुच्छत्र' भारतीय शिल्प–कला का अनन्य प्रतीक है। छत का विशेष प्रकार का अंकन जैन–मन्दिरों को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। नागपाश या एक मुख, या तीन या पाँच देहवाली आकृतियाँ द्वार के ऊपर रहती हैं। लोगों का ऐसा विश्वास रहा है कि इस प्रकार की आकृतियां बनाने से कोई भी छत्रपति इसके निम्न भाग से निकल नहीं सकता। मुगलकाल में भी इन आकृतियों का विशेष प्रचार रहा। मन्दिर का भीतरी भाग प्रायः अलंकृत रहता है। जैन–वास्तुशास्त्र का नियम है कि कहीं पर भी प्लेइन प्रस्तर न रखा जाय।[20]

गर्भगृह के मुख्य द्वार की चौखट पर भी कई आकृतियां दृष्टिगोचर होती हैं। चंवरधारिणी नारियों के अतिरिक्त उभय ओर जिन–प्रतिमाएँ या देव–देवियों की मूर्तियाँ तथा जिन–प्रतिमाएँ रहती है। मध्यस्थ स्तम्भ–पर तो निश्चित रूप से मूर्तियाँ रहती ही हैं। कुछ मन्दिर भूमिगत भी है और तीन–चार मंजिल के भी। जैन संस्कृति का त्याग प्रधान रूप, इसके कण–कण में परिलक्षित होता है।[21]

कही – कहीं जैन मंदिरों में मानस्तम्भ भी मिलते हैं। मानस्तम्भ तीर्थंकर के मान का प्रतीक है और जिसके मान (ऊँचाई) को देखकर अभिमानियों का मान चूर्ण हो जाता है। मानस्तम्भ का निर्माण कदाचित् सर्वप्रथम मथुरा में (शक–कुषाण काल में) हुआ था। आचार्य जिनसेन के अनुसार मानस्तम्भ का उद्देश्य जिनेन्द्रदेव के त्रिलोकातीत मान (श्रेष्ठता) को सूचित करना है।[22] मानस्तम्भों का स्वरूप प्रायः सर्वत्र एक समान मिला है। भूमि पर एक के ऊपर एक निर्मित तीन पीठिकाओं (अधिष्ठानों) पर स्तम्भदण्ड स्थित रहता है जिसके शीर्ष पर एक 'सर्वतोभद्रिका[23] स्थापित होती है। पीठिकाएं कभी–कभी अलंकृत भी होती है। स्तम्भदण्ड कहीं अलंकृत मिले हैं और कहीं अल्प–अलंकृत या अलंकरण विहीन। सर्वतोभद्रिका सर्वत्र अलंकृत ही प्राप्त हुई है। उसके चारो ओर एक–एक स्तम्भयुक्त देवकुलिका अंकित होती है, जिनमें सर्वतोभद्रिका या तो उसी पाषाण में उत्कीर्ण की गयी होती है या पृथक् रूप से स्थापित कर दी जाती है। इस सबके ऊपर एक लघु शिखराकृति का आलेखकन होता है। सर्वतोभद्रिका चतुष्कोण ही होती है जबकि स्तम्भदण्ड वृत्ताकार या चतुष्कोण या अष्टकोण होता है पीठिकाओं का आकार प्रायः स्तम्भदण्ड के समान होता है।[24]

दिगम्बर जैन साहित्य में तीन प्रकार के क्षेत्रों के मंदिरों का विशेष तौर से उल्लेख किया गया हैं जैन मंदिरों की विशेषताओं को समझने के लिए इनका वर्णन भी समीचीन है।[25]

क. निर्वाण क्षेत्र : ये वे क्षेत्र कहलाते हैं, जहां तीर्थंकरों या किन्हीं मुनिराज का निर्वाण हुआ हो। संसार में निर्वाण ही चरम पुरूषार्थ है। अन्य तीर्थों की अपेक्षा निर्वाण क्षेत्रों का महत्व अधिक होता है। तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्र कुल पांच हैं – कैलाश, चम्पा, पावा, उर्जयन्त और सम्मेद शिखर। पूर्व के चार क्षेत्रों पर क्रमशः ऋषभदेव, वासुपूज्य, महावीर और नेमिनाथ मुक्त हुए। शेष बीस तीर्थंकरों ने सम्मेद शिखर पर मुक्ति प्राप्त की।

ख. कल्याण क्षेत्र : ये वे पांच क्षेत्र हैं, जहां किसी तीर्थंकर का गर्भ, जन्म, अभिनिष्क्रमण (दीक्षा) और केवलज्ञान कल्याणक हुआ है। जैसे हस्तिनपुर, शौरीपुर, अहिच्छित्र, वाराणसी, काकन्दी, कुकुम्ग्राम आदि।

ग. अतिशय क्षेत्र : जहां किसी मंदिर में या मूर्ति में कोई चमत्कार दिखाई दे, तो वह अतिशय क्षेत्र कहलाता है। अतिशय क्षेत्रों के प्रति जनसाधारण का आकर्षण भौतिक या सांसारिक होता है, आध्यात्मिक नहीं होता। लोग या तो एहिक कामनावश वहां जाते है अथवा उनके मन में अद्भभुत कुतुहल होता है।

जैन जनता की एहिक कामनाओं की पूर्ति के लिए यदा–तदा जैनेतर देव–स्थानों में जाने से रोकने के लिए ही अतिशय क्षेत्रों की स्थापना की गयी। यह कल्पना सम्भवतः भट्टारक परम्परा की देन है। अतिशय क्षेत्र प्रायः 8वीं–9वीं शताब्दी बाद के हैं और यह वह काल था, जब जैन धर्म को अपनी अस्तित्व रक्षा के लिए लगभग सभी प्रान्तों में और मुख्यतः दक्षिण भारत में कठिन संघर्ष करना पड़ रहा था। उस काल में जैन धर्म पर जैनों की आस्था बनाए रखने के लिए ही मनीषी आचार्यों और भट्टारकों को अतिशय क्षेत्रों की कल्पना करनी पड़ी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 सचिदानन्द सहाय – मंदिर स्थापत्य का इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, द्वितीय संस्करण 1989 पृ0–5
2. डॉ0 भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' – देवगढ़ की जैन कला (एक सांस्कृति अध्ययन), भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण 2000, पृ0 91–92
3. सुमेरू की पहचान के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं समेरू एक ऐसा विशिष्ठ पर्वत है, जहां से पर्वत श्रेणियां निकलकर चारों दिशाओं में फैलती हैं। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। कुछ विद्वान इसका अभिज्ञान हिमालय की विभिन्न चोटियों से करते हैं। डॉ0 आर0 जी0 हर्षे तथा डॉ0 बलदेव उपाध्याय इसकी स्थिति अलवार्ड पर्वत के क्षेत्र में मानते हैं जबकि प्रो0 सैयद मुजफ्फर अली ने अनेक तर्कों के आधार पर मध्य एशिया में स्थित पामीर पर्वत को सुमेरू प्रमाणित किया है।
4. अमलानन्द घोष – जैन कला एवं स्थापत्य, खण्ड–3, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1975, पृ0 515–16
5. बलभद्र जैन – जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, गजेन्द्र पब्लिकेशन, दिल्ली, 19गगए पृ0–19 व 22
6. वही पृ0–19
7. प्रो0 कृष्ण दत्त वाजपेयी – भारतीय कला में भगवान महावीर, सन्मति संदेश, दिल्ली, 1961, पृ0–36
8. डॉ0 भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' –वहीं पृ0–93
9. मुनि कान्ति सागर – खण्डहरों का वैभव, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण 1953,पृ0 71–72
10. वलभद्र जैन – वही, पृ0–22
11. मुनि कान्तिसागर –वही, पृ0 76
12. वही, पृ0–75, 76
13. डॉ0 भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' – वही, पृ0–94
14. बलभद्र जैन – वही, पृ0–23
15. अमलानन्द घोष – वही,, पृ0–516–517
16. मुनि कान्तिसागर –वही, पृ0 72–73
17. वही, पृ0–74
18. आनन्दकुमार कुमारस्वामी – हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट, न्यूयार्क, 1927, पृ0–27
19. मन्दिर की मुख्य प्रतिमा अर्थात् जिस तीर्थंकर का मन्दिर है उसकी प्रतिमा। मुख्य स्थान पर स्थापित प्रधान जिन–मूर्ति।
20. मुनि कान्तिसागर, वही – 78,79
21. वही , पृ0–80
22. आदिपुराण– 92–102
23. इसमें एक ही शिलाखण्ड में चारों ओर चार जिन प्रतिमाएँ ध्यानमुद्रा या कायोत्सर्ग में निरूपित होती हैं। इन प्रतिमाओं का निर्माण कुषाण काल में प्रारम्भ हो गया था।
24. डॉ0 भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' –वहीं पृ0–117, 118
25. बलभद्र जैन – भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, प्रथम भाग, प्रकाशक– भारत वर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, बम्बई, 1974, पृ0–10, 11